THE ECONOMIC TIMES

Date: 14-01-17

Better education: Not by money alone

Expenditure on education as share of GDP has fluctuated between 3.55 per cent and 4 per cent, falling short of the 6 per cent of GDP promised by successive governments.

Nonetheless, over the last decade, education has accounted for nearly 50 per cent of total social services spending. Despite the increased funding, poor learning outcomes mark the education system, irrespective of the school's ownership.Assessments by private/non-governmental organisations (NGOs) and government agencies find at least a third of students failing to meet the required minimum learning levels in mathematics and reading comprehension.

Improving learning outcomes will require looking beyond funding to the central component of an effective education system: the teacher.Despite better pay and job security, government school teachers tend to perform poorly compared to their private counterparts. Remedying this requires that teachers have greater autonomy, assessment and accountability.Teachers must have the freedom to devise the curriculum in a manner suited to their classroom, going beyond the textbook to design of lessons tailored to the students rather than a mythical matrix.The Economic Survey 2016 reports that only 79 per cent of teachers are professionally qualified. More important is a system that assesses teachers regularly not just on their knowledge but also methods.Training that is in sync with the realities of their schools and classrooms to help teachers be the best they can be. Finally, teachers must be held accountable, not by a faraway centralised system but at the local level to the school administration and school management committees.A system that rewards performers, helps laggards improve, and punishes the habitual poor performers is essential.

Schools, particularly in the government system, need to participate in international assessments like PISA and TIMSS. More money for education is welcome and necessary but it is not everything.Fixing our schools requires optimum leveraging of existing funding, and systemic changes to achieve both empowerment and accountability.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 14-01-17

खंडित मॉडल

रेलवे ने हमेशा खुद को देश की आर्थिक गतिविधियों की रीढ़ बताते हुए गर्व अनुभव किया है। एक वक्त था जब रेलवे की हड़ताल एक क्षण में अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थी और **खाद्यान्न**, डीजल तथा अन्य अनिवार्य वस्तुओं की कमी हो सकती थी। आज परिवहन जगत की तस्वीर नाटकीय ढंग से बदल चुकी है। अब उसका कारोबारी मॉडल भंग हो चुका है। उसे नए ढंग से **परिभाषित** करने के लिए नई सोच की जरूरत होगी। इस काम में ढेर सारी धनराशि और समय भी लगेगा। इन तीनों की पर्याप्त उपलब्धता आसान **नहीं**।

ऐसी स्थिति कैसे बनी? संक्षेप में इसका जवाब यह है कि प्रतिद्वंद्वियों ने रेलवे की बाजार हिस्सेदारी छीन ली। रेलवे माल परिवहन और यात्रियों की संख्या में काफी गिरावट आई है। इन दिनों सड़क के जरिये होने वाली माल ढुलाई रेलवे की तुलना में दोगुनी है। इस समय 40 और 50 टन ढुलाई क्षमता वाले ट्रक बाजार में हैं जबकि पहले केवल 10 टन क्षमता वाले ट्रक ही हुआ करते थे। पेट्रोलियम उत्पादों की ढुलाई के मामले में रेलवे पहले ही अपनी हिस्सेदारी पाइपलाइन के हाथों गंवा चुका है। जबकि नए बिजली संयंत्रों या इस्पात संयंत्रों में से अधिकांश कच्चे माल के स्रोत के करीब स्थित हैं और इसलिए कोयला ढुलाई, लौह अयस्क आदि के लिए भी बहुत अधिक मांग नहीं हो रही। कम माल वाले कारोबारी वैसे भी रेलवे का रुख नहीं करते। उनको ऐसा करने के लिए मनाने में भी काफी कवायद लगेगी क्योंकि माल ढोने वाले ट्रेनों की औसत गति बमुश्किल 25 किलोमीटर प्रति घंटा है।

यात्रियों की बात करें तो लंबी दूरी के मामलों में विमान यात्राओं ने तेजी से रेलवे के यात्रियों को अपनी ओर खींचा है जबकि छोटी दूरी में डीलक्स बसें खासी सस्ती पड़ रही हैं। देश में कारों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी है। दिल्ली से जयपुर के बीच कार से चार लोगों का सफर शताब्दी एक्सप्रेस के चार टिकटों की तुलना में सस्ता पड़ेगा। इससे स्थानीय सफर भी किया जा सकेगा। इस वर्ष भारतीय रेल के यात्रियों का आवागमन करीब एक फीसदी बढ़ा जबकि पिछले लगातार तीन साल इसमें गिरावट आई थी। इसके विपरीत यात्री विमानन परिवहन जनवरी से अक्टूबर महीने के बीच 23 फीसदी बढ़ा। इससे किराये के गणित को समझा जा सकता है। हालांकि टिकट बुक करने का समय बहुत मायने रखता है लेकिन भारत में हवाई किराया दुनिया में सबसे कम है। इंडिगो जैसी सस्ती विमान सेवा में यह अक्सर 3.10 रुपये प्रति किमी तक है लेकिन अगर आपने अपनी यात्रा सावधानीपूर्वक बनाई है तो यह दो रुपये प्रति किमी तक भी हो सकता है। रेल किराये में भी अंतर आ सकता है लेकिन यह अंतर श्रेणी का है। इसके अलावा लंबी दूरी के किराये भी प्रति किमी काफी कम होते हैं। लेकिन हवाई यात्रा में जो समय बचता है उसका कोई जवाब नहीं। रेल यात्रा का अनुभव यही बताता है कि उसके समय पर पहुंचने की संभावना कम ही है। भले ही आप प्रीमियम ट्रेन सेवा का इस्तेमाल करें। इस समय हर रोज ढाई लाख से अधिक लोग विमान यात्रा कर रहे हैं। यह संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है। यात्रियों की संख्या में यह तेजी रेलवे की उच्च श्रेणी यात्रा करने वालों को पीछे छोड़ चुकी है।

छोटी दूरी की बात करें तो बसों से बहुत तगड़ी प्रतिस्पर्धा मिल रही है। दिल्ली-जयपुर मार्ग पर डीलक्स बस की एक सीट शताब्दी एक्सप्रेस की तुलना में 25 फीसदी तक सस्ती है। विमानन सेवा और बस सेवा दोनों मुनाफे में हैं जबकि रेलवे को यात्री किराये के मोर्चे पर जबरदस्त नुकसान का सामना करना पड़ रहा है। गति के मामले में रेलवे बसों पर बढ़त हासिल कर सकता है लेकिन माल ढुलाई करने वाली ट्रेन उन्हीं पटरियों पर बहुत धीमी गति से चलती हैं। यही वजह है सुपर फास्ट ट्रेन भी 70 किमी प्रति घंटे से अधिक तेज नहीं चल पातीं। अगर माल ढुलाई का अधिकांश काम नए फ्रेट कॉरिडोर में स्थानांतरित हो जाए तो यात्री ट्रेन 100 किमी प्रति घंटे तक की रफ्तार या उससे भी तेजी से चल सकती हैं। तब बसों के लिए उसे पकडऩा मुश्किल हो जाएगा।

अगर तेल कीमतें एक बार फिर बहुत ऊंची नहीं हो जातीं तो रेलवे के लिए अकेले लागत पर टिके रहना मुश्किल हो जाएगा। ऐसे में वह गति के मामले में ही बढ़त हासिल कर सकता है। इसके लिए उसे माल वहन को यात्री मार्ग से अलग करना होगा, यात्रियों के यात्रा अनुभव को सुधारना होगा। इसमें साफ-सफाई, टर्मिनल सेवाएं और आधुनिक कोच आदि शामिल हैं। उसे उच्च मूल्य के माल परिवहन के लिए लचीले विकल्प पेश करने चाहिए। सरकार का कहना है कि यह सारा काम प्रगति पर है। इस दिशा में प्रगति नजर आए तभी उस पर विश्वास किया जा सकता है

दैनिक भास्कर

Date: 14-01-17

एकतंत्र बनता जा रहा है हमारा लोकतंत्र

ढाई साल के मोदी राज में देश किस दिशा में जाता रहा है, यह प्रश्न पूछने का समय अब आ गया है। यह महसूस हुआ है कि कोई प्रधानमंत्री है और धमाकेदार है, जबकि उसके पहले के दस वर्षों में यह पता लगाना पड़ता था कि प्रधानमंत्री कौन है। उन दिनों नीतियां कौन बना रहा था और उन्हें कौन लागू कर रहा था, यह बताना भी आसान नहीं था लेकिन, अब तक प्रधानमंत्री मोदी की कार्यपद्धति ऐसी रही है कि भारतीय लोकतंत्र, अब एकतंत्र (मोदीतंत्र) में बदलता दिख रहा है। इसके फायदे भी हैं और नुकसान भी हैं।

फायदे कई हैं। जब प्रधानमंत्री शक्तिशाली होता है तो नौकरशाही उससे खौफ खाती है और मुस्तैदी से काम करती है। प्रधानमंत्री यदि ईमानदार हो तो मंत्रियों को भ्रष्टाचार करते वक्त डर लगता है। प्रधानमंत्री के पांच साल तक जमे रहने की संभावना के कारण सरकार में स्थायित्व आ जाता है। पिछली लगभग आधा दर्जन सरकारें या तो स्पष्ट बहुमत की सरकारें नहीं थीं या डेढ़-दो वर्ष में ही गुड़क गईं। इस दृष्टि से मोदी सरकार देश के लिए अत्यंत हितकर सिद्ध हो सकती थी। मोदी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे अपनी बात लोगों के गले उतारने में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने अब तक जितनी जन-सभाएं कीं, उतनी प्रायः अन्य प्रधानमंत्री नहीं करते हैं। लेकिन चिंता की बात यह भी है कि देश का सारा ध्यान एक ही व्यक्ति पर केंद्रित होता जा रहा है। सारी व्यवस्था आदर्श, सिद्धांत व कार्यक्रम केंद्रित होने की बजाय व्यक्ति केंद्रित हो रही है। यह न तो देश, न सत्तारूढ़ दल और न उस व्यक्ति-विशेष के लिए शुभ है। लोकतंत्र के एकतंत्र में बदलने की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म, इतनी विरल और इतनी अदृश्य होती है कि लोगों का ध्यान आसानी से नहीं जाता। संसदीय लोकतंत्र में प्रधानमंत्री को 'बराबर वालों में प्रथम' (प्रिमस एंटर पेरेस) माना जाता है, जैसा कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री होता है। अमेरिकी राष्ट्रपति की तरह वह अपने मंत्रिमंडल का स्वामी (बॉस) नहीं होता है। आज भारत के मंत्रिमंडल की स्थिति क्या है? सरकार की प्रमुख नीतियों पर मंत्रिमंडल में खुलकर बहस होती हो, इसके कोई संकेत नहीं मिलते। यदि बहस होती रहती तो नोटबंदी जैसे कदम को क्या हरी झंडी मिल सकती थी? इसी प्रकार सीमांत पर की गई कथित 'सर्जिकल स्ट्राइक' भी किसी नौकरशाह के दिमाग के उपज रही होगी। यह 'सर्जिकल स्ट्राइक' रोज 'फर्जिकल स्ट्राइक' सिद्ध हो रही है। हमारे सौ से ज्यादा जवान पाकिस्तान ने मार गिराए हैं और दर्जनों स्थानों पर घुसकर उसने पलट सर्जिकल स्ट्राइक कर दी है। क्या सर्जिकल स्ट्राइक करने के पहले प्रधानमंत्री ने अपने साथी मंत्रियों और सामरिक विशेषज्ञों से कोई सलाह की? इसके कारण पाकिस्तान के साथ हमारा युद्ध भी हो सकता था। क्या हमारी सरकार उसके लिए तैयार थी?

नीति-निर्माण का काम व्यक्ति-केंद्रित होने का यही सबसे बड़ा खतरा है। इस तरह के काम का एक उदाहरण और भी है। काबुल-यात्रा पर गए प्रधानमंत्री अचानक पाकिस्तान चले गए, नवाज शरीफ की नातिन की शादी में भाग लेने। विदेश मंत्रालय को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। उसके हफ्ते भर बाद ही पठानकोट में आतंकी हमला हो गया। बिना सोचे-विचारे निर्णय करना और भावावेश में बहकर नीति-निर्माण करने वाली संस्थाओं की उपेक्षा करना व्यक्ति-केंद्रित शासन का विशेष लक्षण होता है। नोटबंदी का अत्यंत महत्वपूर्ण वित्तीय फैसला रिजर्व बैंक को करना चाहिए था लेकिन, मोदी ने उस पर अपना यह फैसला थोप दिया। ऐसी कार्रवाइयों से देश की स्वायत्त संस्थाओं की प्रतिष्ठा पर आंच भी

आती है और गलत निर्णय भी होते हैं। जब शा◌ासन व्यक्ति केंद्रित हो जाता है तो गलत निर्णयों को सही ठहराने की जिद ठान ली जाती है। उससे सरकार और जनता का भारी नुकसान होता है।

यह स्वागत योग्य है कि मोदी ने भाजपा की **कार्यकारिणी** के अधिवेशन में पारदर्शिता का प्रश्न उठाते हुए कहा कि लोगों को यह पूछने का अधिकार है कि भाजपा के पास पैसा कहां से आता है और उसका हिसाब क्या होता है। ऐसी अटपटी बात आज तक किसी प्रधानमंत्री या पार्टी अध्यक्ष ने नहीं कही। यदि मोदी सचमुच नेता हैं और उनमें दम है तो वे अपनी पार्टी के सारे हिसाब को **सार्वजनिक** क्यों नहीं कर देते? लेकिन, ऐसे कदम प्रायः अपनी छवि चमकाने के लिए होते हैं। पार्टी के आंतरिक लोकतंत्र का सवाल भी बड़ा **महत्वपूर्ण** है। क्या कभी भाजपा में प्रधानमंत्री और भाजपा अध्यक्ष ऐसे दो व्यक्ति रहे हैं, जो एक ही राज्य मंत्रिमंडल के ऊपर-नीचे सदस्य रहे हो? अमित शाह को अध्यक्ष पद थमा देने से भाजपा एक अर्थ में बहुत ही संकीर्ण-**नियंत्रण** वाली पार्टी बन गई है। वह पहले से अधिक व्यक्ति-**केंद्रित** और रबर-ठप्पा पार्टी बन गई है। पार्टी की कार्यकारिणी में किसी ने नोटबंदी की दो-टूक समीक्षा की हो और जनता के दुख-दर्दों को गुंजाया हो, ऐसा नहीं सुना गया। बल्कि उल्टा हुआ। पार्टी ने मोदी की विरुदावलियां **गाईं**।

इसी का परिणाम है कि राज्यों के चुनावों में **किसी** प्रांतीय नेता को नहीं चमकने दिया जाता है। दिल्ली और बिहार में भाजपा के पास कोई मुख्यमंत्री का उम्मीदवार ही नहीं था और **उत्तरप्रदेश** में भी नहीं है। प्रधानमंत्री भी वही हैं और भावी **मुख्यमंत्री** की भूमिका भी वही निभा रहे हैं। यही हाल विदेशी दौरों का है। प्रतिभाशाली विदेश मंत्रीजी घर में बैठी मक्खियां मार रही हैं और **प्रधानमंत्री** विदेश घूमने का कोई मौका नहीं चूक रहे हैं। अब खादी के विज्ञापनों में गांधी **की** जगह मोदी आ गए हैं। कितना भौंडा मजाक है, यह! जिसने अकेले दम नोटबंदी की, वह संसद में लगातार मौन धारण किए रहा और छुटभैये विपक्ष पर लपलपाते रहे। यह कैसा लोकतंत्र है, कैसे **जिम्मेदार**-जवाबदेह सरकार है। एकतांत्रिक शासक की यह खूबी होती है कि वह संवाद पसंद नहीं करता। वह सिर्फ एकतरफा भाषण जारी रखता है। इसीलिए ढाई साल में एक भी पत्रकार परिषद नहीं हुई, पार्टी की **प्रायोजित** सभाओं में आप कुछ भी बोलिए, आपको टोकने वाला कौन है? जब देश में एकतांत्रिक माहौल जोर पकड़ने लगता है तो अदालतों और **स्वायत्त** संस्थाओं के भी पसीने छूटने लगते हैं। सर्वोच्च **न्यायालय** ने सहारा-बिड़ला डायरियों को रद्द कर दिया, जबकि दिल्ली वि.वि. की 1978 की डिग्रियों की जांच की मांग करने वाले सूचना अधिकारी का मंत्रालय ने तबादला कर दिया। लोकतंत्र के लिए शुभ शकुन नहीं हैं।

वेदप्रताप वैदिक, भारतीय विदेश नीति परिषद के अध्यक्ष (ये लेखक के अपने विचार हैं।)

दैनिक जागरण

Date: 14-01-17

छोड़ें शिक्षा के प्रति कामचलाऊ रवैया

शिक्षा किसी भी समाज के लिए कितना मायने रखती है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। भारत में ज्ञान और **शिक्षा** को लेकर प्राचीन काल से ही लौकिक और आध्यात्मिक हर तरह की **महत्वाकांक्षाएं** पाली जाती रही हैं। इसकी सहायता से समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने में सहायता मिलती है, पर इससे कहीं ज्यादा **महत्वपूर्ण** यह है कि यह समाज के मानस का एक किस्म का आनुवंशिक चरित्र तय करती है। यह भी

कह सकते हैं शिक्षा के सहारे समाज में एक तरह का बौद्धिक-मानसिक डीएनए आकार लेता है, जो चीजों के होने न होने और सोचने के तरीकों की खास तरह की समझदारी विकसित करता है। शिक्षा की संस्थाओं के सहारे यह सब पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलता जाता है। शिक्षा एक प्रकार की बौद्धिक अभियांत्रिकी (मेंटल इंजीनियरिंग) जैसी होती है। अंग्रेजों ने इस बात को समझ कर इसका प्रभावशाली उपयोग किया और जरूरी तरीकों का इस्तेमाल करते हुए शिक्षा के उद्देश्य, उसकी विषयवस्तु, उसकी प्रक्रिया और उपयोग को ऐसे सांचे में ढाल सकने में समर्थ हो गए कि हमारे पास जो कुछ ज्ञान के रूप में था उसकी स्मृति का लोप शुरू हो गया। उसे अप्रासंगिक ही नहीं करार दिया गया, बल्कि हम उसे हिकारत की नजर से देखने लगे। धीरे-धीरे भारतीय ज्ञान परंपरा बोझ और ग्लानि का कारण बनती गई। उसे अतीत या इतिहास की वस्तु मानते हुए ज्ञान के संग्रहालय को सुपुर्द करने योग्य मान लिया। उसे कभी-कभी पूजनीय जरूर माना जाता रहा, पर अक्सर उससे छुटकारा पाने में ही भलाई समझी जाने लगी। ऐसे में यदि भारतीय मानस की भारतीयता खोती गई तो कोई आश्चर्य नहीं। यह सब जिस तरह से हुआ और जिस मजबूती से स्थापित किया गया वह अद्भुत किस्म का सफल बौद्धिक उपनिवेशीकरण था, जिसके जाल से निकलना असंभव-सा हो गया। आधुनिक होने की जरूरत तो स्वाभाविक है, पर इसके रास्ते अपनी परंपरा से भी निकलते हैं।

परंपरा सिर्फ पुराने को ज्यों का त्यों ढोना नहीं है, जैसा हम अक्सर मान बैठते हैं, उसमें जो पहले से है उससे आगे जाना भी शामिल है। इस तरह परंपरा आधुनिकता के विरुद्ध नहीं है। साथ ही आधुनिकीकरण को हमने सिर्फ पश्चिमीकरण मान लिया और बिना किसी आलोचना और समीक्षा के परंपरा और आधुनिकता को परस्पर विरोधी मान लिया। परंपरा यानी भारतीयता आधुनिकता की विरोधी ठहरा दी गई। और हमने अपनी राह सीधे-सीधे पश्चिम के अंधानुकरण में खोज ली। स्वतंत्रता मिलने के बाद भी शिक्षा के प्रति कामचलाऊ सोच ही चलती रही। सतत उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि अभी तक हमारा देश शतप्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य भी नहीं प्राप्त कर सका है, शिक्षा के अन्य स्तरों की बात क्या करें। देश में 75 प्रतिशत तक साक्षरता पहुंच सकी है, पर निरक्षरता में कमी जनसंख्या में वृद्धि के अनुपात में नहीं हो पायी है। 2001 से 2011 के बीच सात वर्ष से ऊपर की जनसंख्या में 18.65 करोड़ का इजाफा हुआ, पर निरक्षरता में कमी 3.11 करोड़ की ही दर्ज की गई। शिक्षा का अधिकार कानून 2010 में पास हुआ था।

संविधान की व्यवस्था के अनुसार 6 से 14 वर्ष की आयु के बीच के सभी बच्चों को अनिवार्य तथा नि:शुल्क शिक्षा उपलब्ध करना आवश्यक है, पर हम सफल नहीं हो पा रहे हैं। जनसंख्या वृद्धि के समानांतर नामांकन में वृद्धि दर्ज नहीं होती और साक्षरता ज्यादातर सिर्फ दस्तखत करना सीखने तक सीमित है। इसी से जुड़ी समस्या बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने वालों की है। गांवों में हजार में से 326 और शहरों में 383 लोग पढ़ाई छोड़ देते हैं। 2014 में 61 लाख बच्चे स्कूल से बाहर थे। पूर्व प्राथमिक शिक्षा का विस्तार बहुत सीमित है। जो है वह भी अधिकतर शहरों में है। मात्र एक प्रतिशत बच्चे ही इसमें जा पाते हैं। माध्यमिक और उच्च शिक्षा के सामने कई चुनौतियां खड़ी हैं। इनमें छात्र-अध्यापक अनुपात, अपेक्षित संसाधनों की कमी तथा अच्छे शिक्षक-प्रशिक्षण का अभाव प्रमुख हैं। इनसे शिक्षा की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है। वस्तुत: शिक्षा की स्थिति बड़ी विविधता वाली है, जिसमें अनेक धाराएं चल रही हैं। ये सभी मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से अलग-अलग हैं। आज उच्च शिक्षा की ज्ञान और शोध की धारा पश्चिम से आयातित होती गई है और हमने सिद्धांत और पद्धति को इस तरह प्रचारित कर दिया है कि उसकी व्यर्थता को जानते-पहचानते हुए भी कुछ कर पाना मुश्किल हो रहा है।

कोल्हू के बैल की तरह उसकी ऐसी जबर्दस्त आदत पड़ गई है कि उसके अलावा और कुछ दिखता ही नहीं। जब शोध करने बैठते हैं तो न सिर्फ तरीकों, बल्कि समस्याओं और सिद्धांतों तक को उधार लेते हैं। ऐसे में बौद्धिक नवोन्मेष कम और मानसिक दरिद्रता का ही अहसास होता है। जब इसका आकलन करने चलते हैं तो लोग अक्सर दोहराव, नकल और अप्रासंगिकता की चर्चा करते हैं। शोध कार्यों की मात्रा खूब बढ़ी है, पर ज्यादातर को पढ़ कर ऊब, खीझ और थकान का ही अनुभव होता है। यह समझ में नहीं आता कि यह सब किस मुगालते में हो रहा है और कहां ले जा रहा है। इस समय भारत में शिक्षा की प्रकृति और उसके संचालन को लेकर गंभीर विचार-विमर्श सरकारी प्रतिष्ठान, गैर-सरकारी संगठन और अकादमिक क्षेत्र आदि में कई स्तरों पर बड़े पैमाने पर चल रहा है। इस विमर्श की चिंताओं के मोटे तौर पर चार प्रमुख आयाम पहचाने जा

सकते हैं। पहला, बच्चों और युवाओं की देश की जनसंख्या में बढ़ते अनुपात की चुनौती के समाधान के लिए शिक्षा मुहैया कराने वाले अवसरों को बढ़ाना। दूसरा, शिक्षा को रोजगार की ओर उन्मुख करना ताकि समाज में बढ़ती बेरोजगारी की समस्या से निपटा जा सके। तीसरा, शिक्षा की गुणवत्ता को सुनिश्चित करना ताकि वह विश्व में किसी से पीछे न रहे। चौथा, भारतीय शिक्षा को सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से प्रासंगिक और मूल्यवान बनाना। ये न केवल व्यावहारिक हैं, बल्कि इनके महत्वपूर्ण सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य और प्रक्रियागत आशय भी हैं। इन आयामों को औपचारिक विचार का विषय तो जरूर बनाया गया, जैसा कि अनेक शिक्षा आयोगों की रिपोर्टों से पता चलता है, पर कार्य के स्तर पर पंचवर्षीय योजनाओं में हाथ में लिए गए कामों की वरीयताओं में नीचे होने के कारण कुछ विशेष हासिल न हो सका। इसके लिए आवश्यक सुविधाओं को जुटाने के लिए संसाधनों की कमी और शैक्षिक प्रस्तावों के बारे में संशय के कारण प्रस्तावों को लागू करने में उपेक्षा ही बरती जाती रही। 21वीं सदी में हमें शिक्षा की चुनौती पर विशेष ध्यान देना होगा और पर्याप्त संसाधनों की व्यवस्था करनी होगी। तभी देश की युवा ऊर्जा को देश निर्माण के कार्य में संलग्न किया जा सकेगा।

[लेखक प्रो. गिरीश्वर मिश्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति हैं]

Date: 14-01-17

हकीकत हो चला है नौकरियों पर रोबॉटिक्स का हमला

रोबॉट अब सायेंस फिक्शन से बाहर निकलकर मोटा और महीन, दोनों ही तरह के काम करने वाले लोगों की नौकरियां छीनने वाले हैं, यह चर्चा पिछले साल के बीच में शुरू हुई थी लोगों ने इस खबर को चौंक कर सुना, फिर इसे भी सायेंस-टेक्नॉलजी की सनसनीखेज, लेकिन निराधार खबरों में से एक मानकर दिमाग के कबाड़खाने में डाल दिया। तथ्य बता रहे हैं कि यह हमारे समय की एक ऐसी हकीकत है, जिसका सामना हमें दिनोंदिन ज्यादा तीखेपन के साथ करना पड़ेगा।रोज ब रोज ऐसे रोबॉट बनाए जाने की खबरें आ रही हैं, जो अपने क्षेत्र में बहुत बड़ा खलल पैदा करने वाले हैं और जिनमें से कुछेक का इंडस्ट्रियल इस्तेमाल इसी साल से शुरू होने वाला है। ऑस्ट्रेलिया में एक घंटे में एक हजार ईंटें बना लेने वाला रोबॉट इसी साल अपना काम शुरू कर देगा। अभी ईंटें बनाने वाले 2 कुशल कारीगर यह काम पूरा दिन लगाकर करते हैं, फिर अपना घर-परिवार चलाने जाते हैं। रोबॉट को ऐसा कुछ नहीं करना। वह दिन में चार बार थोड़ा-थोड़ा रेस्ट लेकर बीस घंटे लगा रहे तो एक ही दिन में इन दोनों कारीगरों को महीने भर के लिए बेरोजगार कर देगा। ऐसे सौ रोबॉट ऑस्ट्रेलिया में ईंटें बनाने का पेशा हमेशा के लिए खत्म कर सकते हैं।स्वीडन में जल्द ही गाय दुहने में होशियार रोबॉट की सेवाएं शुरू होने वाली हैं। यह काम वहां आज भी मशीनों के जरिये ही होता है, लेकिन रोबॉट की मदद से यह ज्यादा आसानी से, तेजी के साथ और इंसान की गैरमौजूदगी में हो सकेगा। अभी दुनिया के ज्यादातर जीन्स पैंट कुछ दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के अलावा हमारे पड़ोसी देश बांग्लादेश में सिले जाते हैं। काफी संभावना है कि अगले एक-दो वर्षों में यह काम रोबॉट्स के हाथ में चला जाएगा। बहुत सारे और दोहराव वाले कामों में भी रोबॉटिक्स का दखल शुरू हो रहा है। एक अनुमान के मुताबिक अगले तीन-चार वर्षों में इस इलाके की 13 करोड़ 70 लाख नौकरियां सिर्फ इसी के चलते जाने वाली हैं।

शुरू में रोबॉट्स की मार सामान्य कौशल की मांग करने वाले मोटे कामों पर ज्यादा पड़ेगी, लेकिन दिमागी काम भी इनसे ज्यादा दिन अछूते नहीं रहने वाले। पिछले साल एक एनालिटिकल प्रोग्राम द्वारा तैयार की गई वित्तीय रिपोर्ट एक समाचार एजेंसी द्वारा बिना किसी अतिरिक्त

सूचना के जारी की गई। इसे पढ़ने के बाद पत्रकारों से लेकर आम पाठकों तक किसी के दिमाग में यह बात भी नहीं आई कि यह खबर किसी सिद्ध बिजनस रिपोर्टर द्वारा नहीं, एक कंप्यूटर द्वारा तैयार की गई है। जाहिर है, आने वाले दिनों में कुछ जाने-माने विशेषज्ञ भी रोबॉटिक्स और ऐनालिटिकल प्रोग्रैमिंग की नई लहर के शिकार होने वाले हैं।मामले का दूसरा पहलू यह है कि टेक्नॉलजी का कोई नया दौर आता है तो अपने साथ बहुत सारे नए मौके भी लाता है। रोबॉटिक्स में फिलहाल सबसे आगे चीन, उसके ठीक पीछे जापान और तीसरे नंबर पर अमेरिका है। इसी नंबर एक चीन की सबसे ताकतवर मार्केटिंग इंटेलिजंस कंपनी आईडीसी के रिसर्च डायरेक्टर तथा रोबॉटिक्स टेक्नॉलजी के व्यापारिक पहलुओं के माहिर डॉक्टर जिंग बिंग झांग का कहना है कि 2019 तक रोबॉटिक्स में काम करने वाले प्रोग्रामरों और इंजिनियरों की तनख्वाह अभी की तुलना में औसतन 60 प्रतिशत बढ़ेगी, फिर भी जरूरत के बहुत सारे पद खाली रह जाएंगे। यानी रोबॉटिक्स की लहर आने पर इस क्षेत्र में काम करने वालों के तो मजे ही मजे हैं।

लेकिन असल सवाल यह है कि टेक्नॉलजी में नब्बे के दशक के बाद आ रहे इस सबसे बड़े बदलाव का हमारे-आप जैसे आम लोगों पर कैसा असर पड़ने वाला है। अभी हम सूचना क्रांति के दौर से गुजर रहे हैं, जिसमें कम से कम दस साल तक जमे रहने का दम और बचा हुआ है। एक समय दुनिया में और खासकर भारत में इससे बहुत ज्यादा खौफ देखा जाता था। मुझे 1984 के आखिरी महीनों में हुआ वह आम चुनाव याद है, जिसमें राजीव गांधी ने भारत में कंप्यूटर क्रांति लाने की बात कही थी। तब से लेकर राजीव के 1989 का आम चुनाव हारने तक न जाने कितने विधानसभा चुनावों और लोकसभा के उपचुनावों में लगभग सभी गैर-कांग्रेसी पार्टियों को यह प्रचार करते सुना कि कंप्यूटर किस तरह देश में बेरोजगारी और बर्बादी ले आने वाले हैं।लेकिन व्यवहार में हमने कंप्यूटर के फायदे बहुत ज्यादा देखे और नुकसान संभवत: उससे कम। खासकर प्रिंट मीडिया में बहुत सारी जमी-जमाई नौकरियां देखते-देखते हवा हो गईं। कई साल तक अखबारों के दफ्तर बेरोजगार कंपोजिटरों, प्रूफ रीडरों, पेस्टरों के अड्डे बने रहे। लेकिन अभी शायद ही मीडिया से जुड़ा कोई इंसान कंप्यूटर की आलोचना करता दिखे। क्या रोबॉटिक्स के साथ भी ऐसा ही होने वाला है? अभी हम कभी इसको अपनी-अपनी नौकरी जाने के खौफ से देखते हैं, कभी इसे झूठा हल्ला मानकर अपनी आंखें बंद कर लेते हैं। लेकिन क्या 2022 आते-आते हम सब रोबॉटिक्स की जयजयकार करने लगेंगे, जैसे अभी सूचना और कंप्यूटर क्रांति की कर रहे हैं?

अफसोस कि विशेषज्ञों की राय रोबॉटिक्स के अच्छे पहलुओं को लेकर बहुत ज्यादा सकारात्मक नहीं है। दुनिया में रोजी-रोजगार पर पहले से ही काफी आफत आई हुई है। रोबॉटिक्स की लहर अगले तीन-चार वर्षों में ही इस आफत को बेकाबू बना सकती है। जानकारों की राय है कि बच्चों को विज्ञान, टेक्नॉलजी, इंजिनियरिंग और गणित (साझा नाम स्टेम) की पढ़ाई कराई जाए तो शायद आने वाले दिनों में वे ज्यादा लाचार न नजर आएं। यह काम तो हमें फिलहाल शुरू कर ही देना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही बच्चों में यह समझ भी पैदा की जानी चाहिए कि आने वाले दिनों में उनकी होड़ इंसानों से नहीं, होशियार मशीनों से होने वाली है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 13-01-17

Give credit

RBI governor is right — structural reform and public expenditure are key to growth

A little over two months after the government's decision to withdraw high value notes, the economic mood appears to be sombre. That may have to do with the reinforcement of the growing belief that attempts at firing

the economy are not working: Government data on GDP released last week and RBI figures on loans to the infrastructure sector put out on Tuesday and the fact that automobile sales in December was the lowest in 16 years paint a depressing picture.The RBI data shows that loans to the infrastructure sector recorded its sharpest contraction of 6.7 per cent in November, after sliding over the first eight months of this fiscal. Credit outstanding or bank lending to the infrastructure slipped from Rs 964,800 crore in March 2016 to Rs 900,700 crore in November 2016, with the power sector, which accounts for a dominant share of credit, reporting a contraction of 10.4 per cent in November. This comes on top of the GDP data, which indicates that growth will slow to 7.1 per cent in FY 17, against the earlier projection of 7.6 per cent, and the marking down of growth estimates for this fiscal by many forecasters and agencies. RBI Governor Urjit Patel has red-flagged the central bank's concerns on the relatively high level of borrowings of both the Central and state governments. On Wednesday, Patel warned of the dangers of a high level of government deficit in India, among the highest in the G-20 countries, which could come in the way of a sovereign rating upgrade. Patel also spoke of the need to put a lid on borrowings to ensure stable and low inflation. Adding to the gloomy vibes is a report by the State Bank of India, which says demonetisation has hit almost 70 per cent of businesses in Mumbai, Pune and nearby areas. Finance Minister Arun Jaitley has sought to dispel these impressions by showcasing the growth in both indirect (14.2 per cent) and direct tax (14.4 per cent) collections in December and in the April-to-December period to suggest that demonetisation has not hurt the economy and that reports about job losses were anecdotal.

It is hard to ignore the fact that gross fixed capital formation has fallen by 0.2 per cent this fiscal. Getting the sputtering engines of growth going and reviving the animal spirits of Indian business are going to be a challenge given the limited leeway for public spending. Patel has suggested that structural reforms and reorienting government expenditure towards public expenditure are key for durable gains on the growth front. He also hinted how easy it is to fritter away gains on macro economic stability and tough to regain them. That's the task for the government as it gears up to present the budget in early February.

Date: 13-01-17

Project Of Defiance

Governments are making Aadhaar mandatory in contravention of court orders

One reason for the controversy surrounding the Aadhaar project is the pending litigation against it in the Supreme Court. The cases draw on substantive critiques, including exclusion and deprivation caused by the usage of Aadhaar in provisioning essential services such as the PDS and MGNREGA, breaches of individual privacy and threats to national and individual security in the way the project has been conceived and implemented. Such concerns are not pure policy matters but interact with constitutionally protected fundamental rights, including Articles 14, 19 and 21 of the Constitution.The Supreme Court has passed a series of interim orders to prohibit the imposition and limit the application of Aadhaar. However, concerns as to the compliance of such orders has been rising as various government ministries, departments and other statutory bodies continue to link Aadhaar to the provision of services — in many instances, even making it mandatory. In any litigation, the interest of a court is in ensuring that its final judgement is implemented in letter and spirit. Such determinations take time and a common method to ensure compliance is by preventing parties from disturbing the subject matter of the litigation. Acting on these well-established legal principles, the SC has passed a series of orders on the Aadhaar project as

it continues to consider the petitions.In August 2015, the court issued a set of directions making it clear that Aadhaar was not a precondition for the delivery of any state benefits and further limiting its use to PDS schemes. Aadhaar was directed to be optional, and even such voluntary use was allowed only for the distribution of foodgrains and cooking fuels. Such a restraint was passed after the Union government took a stand that the constitutional basis of the right to privacy did not clearly emerge in case law. Acting on this, the court referred the Aadhaar petitions to a larger bench. Such a bench has yet to be constituted with the larger Aadhaar case hanging in the balance.

During the pendency of the case, two significant events occurred. On October 15, 2015, 11 state governments and institutions went back to the SC seeking permission to use Aadhaar beyond PDS schemes. The court agreed to relax its order but limited the use of Aadhaar to four schemes, in addition to PDS and cooking fuel allowed by the earlier order. It again clarified the use of Aadhaar would be, "purely voluntary" even while Aadhaar is used in these schemes. Then, on March 16, 2016, the Aadhaar (Targeted Delivery of Financial and Other Subsidies, Benefits and Services) Act, 2016 was passed, having been rushed through Parliament as a money bill. Given that the Aadhaar scheme operated on the basis of a executive notification till such date, some claimed the Aadhaar Act filled in a legislative vacuum. Others criticised it on process and substance. Such concerns have given rise to two petitions challenging the constitutional validity of the Aadhaar Act which the court has agreed to hear, but it will have to wait till the larger question of the right to privacy is decided. Hence, compliance with the interim directions becomes vital.Irrespective of such challenges, many state institutions have started demanding Aadhaar as a precondition (mandatory, not voluntary) for services (beyond the five permitted schemes). For instance, the joint entrance examination notification for the IIT competitive exam requires compulsory online registration through Aadhaar. A subsequent clarification makes a reference to the Aadhaar Act to purportedly clothe this imposition with an appearance of legality.

This creates doubt on the restraint put by the SC when none should exist. The Aadhaar Act does not have a provision that excludes or nullifies existing orders. On the contrary, there is language in the Act that suggests continuity with the earlier legal arrangement. Even otherwise, a order on September 14, 2016, stayed the imposition of Aadhaar in three scholarship schemes, thereby indicating that the Aadhaar Act does not materially alter the SC's past orders.The state's measures have elements of coercion that undermine individual choice and rights guaranteed under the Constitution. Observance of the interim orders of the Court are better suited to the government for maintaining a healthy, respectful relationship with the judiciary branch. Disregarding them portends a worrying prospect of undermining the authority of the Supreme Court.

The writers are lawyers for petitioners in the Aadhaar cases before the Supreme Court

---

जनसत्ता

Date: 13-01-17

परंपरा और परिवर्तन

सुप्रीम कोर्ट ने एक बार फिर उन लोगों को झटका दिया है जो तमिलनाडु समेत कई राज्यों में पोंगल पर्व के मौके पर सांड़ों से जुड़े विवादास्पद खेल जल्लीकट्टू को जारी रखने के पक्षधर हैं। अदालत वैसे तो 2014 में ही इस खेल पर पशुओं के साथ क्रूरता का हवाला देते हुए रोक लगा चुकी है। लेकिन इस बारे में याचिकाएं और पुनर्विचार याचिकाएं दाखिल होती रहीं। सुप्रीम कोर्ट ने जल्लीकट्टू को जारी रखने की अनुमति मांगने वाली याचिका गुरुवार को खारिज कर दी। तमिलनाडु के मदुरै शहर में यह खेल लंबे अरसे से आयोजित होता रहा है। कई दिनों से कुछ

जगहों पर इस खेल को जारी रखने की मांग को लेकर प्रदर्शन भी हो रहे हैं। कुडलकोर में कुछ लोगों को गिरफ्तार भी किया गया है। मगर इस मामले में विरोधाभास यह है कि एक तरफ सुप्रीम कोर्ट इसे प्रतिबंधित कर चुका है और दूसरी तरफ तमिलनाडु में सत्तारूढ़ पार्टी से लेकर कई राजनीतिक संगठन खेल को जारी रखने के पक्ष में हैं। तमिलनाडु सरकार ने तो पिछले साल सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका ही दाखिल कर मांग की थी कि अदालत अपने 2014 के आदेश पर पुनर्विचार करे। हालांकि सुप्रीम कोर्ट ने उस याचिका को भी खारिज कर दिया था। लेकिन तमिलनाडु सरकार और वहां के क्षेत्रीय दलों के दबाव में केंद्र सरकार ने साल भर पहले इस खेल को कुछ प्रतिबंधों के साथ जारी रखने की इजाजत दे दी थी।

इस अधिसूचना को 'पेटा' और 'एनीमल वेलफेयर बोर्ड आॅफ इंडिया' समेत कई स्वयंसेवी संगठनों ने फिर सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी। तब अदालत ने कहा कि भले ही यह खेल सदियों पुराना हो, लेकिन ऐसी दलील इसे जारी रखने के लिहाज से बेदम है। अदालत ने पुनर्विचार करने की याचिका भी खारिज कर दी थी। लेकिन यह भी कहा था कि अगर प्रतिवादी अदालत को इस बात पर राजी कर लेते हैं कि उसका 2014 का फैसला गलत है तो मामले को वृहत्तर खंडपीठ के हवाले किया जा सकता है। असल में इस खेल में दो नजरिए काम कर रहे हैं। एक तरफ अदालत है जो चीजों को मानवीयता, पशुदया, जनसुरक्षा के चश्मे से देख रही है और उचित ही यह मानती है कि यह परंपरा आदिम होने के साथ-साथ अंधविश्वास और हिंसा से जुड़ी है। दूसरी तरफ राजनीतिक दल और कुछ स्थानीय संगठन हैं जो अपनी परंपरा और स्थानीय राजनीति के हिसाब से अपने जनाधार के दबाव में हैं।

तमिलनाडु में सत्तारूढ़ अन्नाद्रुमक के महासचिव ने तो प्रधानमंत्री को पत्र लिख कर इस पर अध्यादेश तक लाने की मांग कर दी। लोकसभा के उपाध्यक्ष थंबी दुरई की अगुआई में सत्ताईस सांसदों के प्रतिनिधिमंडल ने प्रधानमंत्री कार्यालय में ज्ञापन दिया और केंद्रीय पर्यावरण मंत्री से मिलकर खेल को जारी रखने की मांग की। तमिलनाडु के मुख्यमंत्री पनीरसेल्वम तो पहले ही अध्यादेश लाने की मांग कर चुके हैं। ऐसे में, सुप्रीम कोर्ट ने हस्तक्षेप करके मामले को फिलहाल साफ कर दिया है। इस खेल में पशुओं के साथ इंसानों के भी घायल होने की घटनाएं होती रही हैं। कई बार तो इस खेल की तुलना स्पेन के सांड़-युद्ध जैसे खूनी खेल से भी की जाती है। परंपरा के नाम पर किसी अंधविश्वास को बनाए रखने की इजाजत नहीं दी जा सकती। राजनीतिक दलों व संगठनों को वोट बैंक और मजमा जुटाऊ राजनीति से हट कर कभी-कभार कुछ आगे की तरफ भी देखना चाहिए।